साहित्य को इतिहास बनाने की कमज़ोर कोशिश

वेंकटेश कुमार
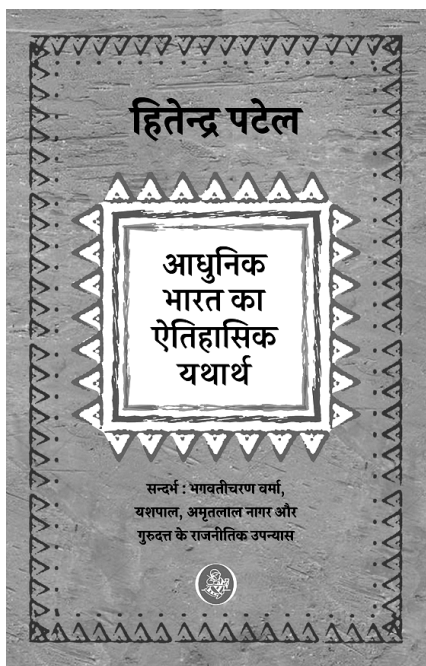
आधुनिक भारत का ऐतिहासिक यथार्थ (2022)

हितेन्द्र पटेल

राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

पृष्ठ : 450

मूल्य : ₹ 499.

हितेन्द्र पटेल की किताब *आधुनिक भारत का ऐतिहासिक यथार्थ* हिंदी के चार उपन्यासकारों (भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर और गुरुदत्त) के चुने हुए उपन्यासों के माध्यम से आधुनिक भारत के एक निश्चित कालखंड (1919-1962) का इतिहास लिखने का दावा करती है। किताब पढ़ते हुए पाठक के मन में यह सवाल उठता है कि यही चार उपन्यासकार क्यों? हितेन्द्र के अनुसार इसकी दो वजहें हैं। पहली वजह यह कि इन चारों उपन्यासकारों ने इतिहासकारों की तरह उपन्यास लिखा है। इस अध्ययन में इन उपन्यासकारों के वैसे उपन्यासों को ही शामिल किया गया है, जो एक निश्चित कालखंड को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। उदाहरण के लिए कोई उपन्यास यदि एक निश्चित कालखंड से शुरू हो रहा है और निश्चित कालखंड पर जाकर ख़त्म हो जा रहा है तो दूसरा उपन्यास उसी कालखंड से शुरू हो रहा है जिस कालखंड पर पहला उपन्यास ख़त्म हुआ था। इस तरह कालक्रम की दृष्टि से एक निरंतरता बनी

रहती है। उपन्यास लेखन की इस प्रवृत्ति ने हितेन्द्र को इन चार उपन्यासकारों तक पहुँचाया। दूसरी वजह है इन उपन्यासकारों की विचारधारा। हितेन्द्र का यह मानना है कि भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का अध्ययन गांधी और नेहरू के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा और कई महत्त्वपूर्ण स्वरों को हाशिए पर डालकर छोड़ दिया गया। और यह सब विचारधारा के नाम पर ही हुआ। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि हितेन्द्र ने अपने अध्ययन के लिए जिन चार उपन्यासकारों को चुना, वे मोटे तौर पर अलग-अलग विचारधारा के प्रभाव में थे। भगवतीचरण वर्मा समाजवादी थे, यशपाल वामपंथी थे, अमृतलाल नागर कॉन्ग्रेसी थे और गुरुदत्त हिंदू राष्ट्रवादी विचारधारा से गहरे प्रभावित थे।

हितेन्द्र ने अपनी इस किताब में जिन उपन्यासों को अध्ययन का विषय बनाया है उन्हें वे राजनीतिक उपन्यास कहते हैं। हम जानते हैं कि हिंदी में 'राजनीतिक उपन्यास' जैसी कोई शब्दावली प्रचलित नहीं है। हितेन्द्र ने जिसे 'राजनीतिक उपन्यास' कहा है, वह हिंदी में 'ऐतिहासिक उपन्यास' के रूप में जाना जाता है। हितेन्द्र के लिए 'राजनीतिक उपन्यास' के क्या मायने हैं, इसे वे इरविंग के हवाले से स्पष्ट करते हैं – 'वह उपन्यास जिसे हम राजनीतिक मानें और इसके साथ यह दिखा सकें कि ऐसा मानने का कारण क्या है।' एरिक हॉब्सबॉम ने बीसवीं शताब्दी को समझने के लिए 'राजनीति' को महत्त्वपूर्ण माना है। हितेन्द्र हॉब्सबॉम के इस विचार से प्रभावित हैं। हितेन्द्र दरअसल अपनी इस पूरी किताब में (1917 से 1962) के भारत के राजनीतिक इतिहास लेखन के पीछे की राजनीति की पड़ताल करते हैं। भारतीय राजनीति में तिलक जैसे लोगों के योगदान की अवहेलना करके गांधी को महान बताना भी एक तरह की राजनीति है। भारत विभाजन के लिए जिन्ना को दोषी ठहराना और कॉन्ग्रेस को क्लीनचिट दे देना भी एक तरह की राजनीति है। सत्ता का इस्तेमाल करके विषमवादी स्वर को दबाना या उसकी अवहेलना करना भी एक तरह की राजनीति है। हितेन्द्र के अनुसार भारत का राजनीतिक इतिहास इस तरह की राजनीतियों से भरा पड़ा है। इन सब की पहचान करके इतिहास का एक सर्वसमावेशी पाठ तैयार करना ज़रूरी है। कहना न होगा कि इतिहास के किसी निश्चित कालखंड का सर्वसमावेशी पाठ तैयार करना बहुत ही जोखिम भरा काम है। हितेन्द्र ने साहस का परिचय देते हुए ये जोखिम लिया है।

साहित्य और इतिहास के आपसी संबंधों पर बहुत पहले से बातचीत होती रही है। हिंदी के अध्येता प्रेमचंद का यह कथन माला की तरह जपते रहते हैं कि इतिहास में नाम और तिथि के अलावा सब कुछ झूठ होता है और साहित्य में नाम और तिथि के अलावा सब कुछ सच होता है। 1910 में आचार्य रामचंद्र शुक्ल इतिहास और साहित्य के रिश्ते को कुछ इस तरह समझ रहे थे – 'इतिहास कभी उन बहुत से सूक्ष्म व्यापारों के लिए जिनसे जीवन का तार बँधा है, एक सांकेतिक व्यापार का व्यवहार करके काम चला लेता है, पर उपन्यास का संतोष इस प्रकार नहीं हो सकता। इतिहास कहीं यह

कहकर छुट्टी पा जाएगा कि अमुक राजा ने बड़ा अत्याचार किया। अब यह अत्याचार शब्द के अंतर्गत बहुत से व्यापार आ सकते हैं। इससे उपन्यास इन व्यापारों में से किसी-किसी को प्रत्यक्ष करने में लग जाएगा।'

हितेन्द्र पटेल भारत में राजनीतिक उपन्यास के उदय को औपनिवेशिक शासन के बरअक्स एक हथियार के रूप में देखते हैं। हितेन्द्र लिखते हैं – 'बंकिम चन्द्र चटर्जी जैसे लेखक ने भी, जो इतिहास लिख सकते थे और पश्चिमी ज्ञान से सुपरिचित थे, अपने इतिहास को अपने उपन्यासों में रखने की कोशिश की। उसके बाद से देश के बहुसंख्यक शिक्षित लोगों के लिए इतिहास के बारे में जानने का सुयोग इतिहास की अकादमिक पुस्तकों से कम और उपन्यासों से अधिक बना। दरअसल इस इतिहास को साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष के एक स्थल के रूप में इस्तेमाल होना था जो कि इतिहास की पाठ्य-पुस्तक लिखकर संभव न था। इस प्रकार औपनिवेशिक भारत में इतिहास को दो स्तरों पर लिखा गया – अकादमिक और जनप्रिय साहित्यिक पुस्तकों के रूप में।' हितेन्द्र के अनुसार अकादमिक इतिहास में अंग्रेज़ी शासन की प्रशंसा का स्वर प्रखर रहता था और राजनीतिक उपन्यासों में राष्ट्रीयता का स्वर। स्वाधीनता आंदोलन का यह दौर भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण का भी दौर है। भारतीय राष्ट्रीयता का स्वरूप क्या हो? यह सवाल उस दौर का सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल था। हमारा समाज अंतर्विरोधों से भरा पड़ा था। एक तरफ़ हम अपने अंतर्विरोधों से संघर्ष कर रहे थे तो दूसरी तरफ़ अंग्रेज़ों से। राजनीतिक उपन्यासों के केंद्र में हमारे समाज के अंतर्विरोध थे। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि उपन्यास तो स्वभाव से ही राजनीतिक होता है। रबीन्द्रनाथ, शरत और प्रेमचंद के उपन्यासों में भी राजनीति है। हितेन्द्र इस बात से इंकार नहीं करते। इस क्रम में हितेन्द्र भवानी सेनगुप्ता और योगेन्द्र मलिक की उस स्थापना को प्रश्नांकित करते हैं जिसमें भारत में राजनीतिक उपन्यासों के नितांत अभाव की बात कही गई है। अपनी बात को पुष्ट करते हुए हितेन्द्र, शरतचन्द्र के *पथ के दावेदार*, रबीन्द्रनाथ के *चार अध्याय*, सतीनाथ भादुड़ी के *जागरी* और *ढोड़ाय चरित* तथा फणीश्वरनाथ रेणु के *मैला आँचल* का उल्लेख करते हैं। प्रेमचंद के उपन्यास *गबन* का एक पात्र देवीदीन खटिक भारतीय स्वराज की पूरी अवधारणा पर सवाल उठाते हुए कहता है कि इस स्वराज से मुझे क्या मिलेगा! बस जॉन की जगह गोविंद सत्ता पर बैठ जाएगा। हितेन्द्र ने अपने अध्ययन के लिए जिन उपन्यासों को आधार बनाया है, वे ऐसे असहज सवालों से भरे पड़े हैं। सामान्य तौर पर अकादमिक इतिहास लेखन में ऐसे असहज सवालों को या तो छोड़ दिया जाता है या उस पर चीनी का लेप चढ़ा दिया जाता है। हितेन्द्र की इस किताब की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें आधुनिक भारत के नग्न यथार्थ को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में साहस के साथ प्रस्तुत किया गया है। ऐसा करने के लिए हितेन्द्र ने एक अनूठी शैली का आविष्कार किया है। सवाल उठता है कि वह शैली क्या है? ऊपर कहा जा चुका है कि हितेन्द्र ने हिंदी के चार चुने हुए उपन्यासकारों

के चुने हुए उपन्यासों को अपने अध्ययन का आधार बनाया है। हम जानते हैं कि उपन्यास और इतिहास की रचना-प्रक्रिया अलग-अलग होती है। यही वजह है कि उपन्यास को हम इतिहास की स्रोत-सामग्री तो मानते हैं लेकिन उसे इतिहास का दर्जा नहीं देते। उपन्यास को इतिहास का दर्जा दिलाने की चाहत में ही हितेन्द्र ने यह अनूठी शैली आविष्कृत की है। इस शैली को यदि कोई नाम देने की कोशिश की जाय तो वह होगा – उपन्यास का ऐतिहासिक रूपांतरण। लेकिन हितेन्द्र को इस 'रूपातंरण' में कितनी सफलता मिली है, इस पर कुछ कहना थोड़ी जल्दबाज़ी होगी। हाय स्कूल स्तर पर हिंदी के प्रश्नपत्र में किसी उपन्यास या कहानी का सारांश लिखने के लिए कहा जाता है। हितेन्द्र ने अपनी इस किताब में जिन उपन्यासों को अध्ययन का आधार बनाया है, उनका सारांश भर प्रस्तुत कर दिया है। अपने इस अध्ययन में हितेन्द्र को कहाँ पहुँचना है, यह उन्होंने पहले ही तय कर लिया था। जिस इतिहास पर निशाना साधते हुए एक नया इतिहास लिखने की महत्त्वाकांक्षा हितेन्द्र अपने सीने में पिछले 30 साल से पाल-पोस रहे थे, वह यह रहा – 'इतिहासकारों समेत पूरा देश गांधी के कांग्रेस के नेतृत्व में हुए राष्ट्रीय आंदोलन और जवाहरलाल नेहरू के राष्ट्र निर्माण के प्रोजेक्ट की जय-जयकार में लगा हुआ था', (है)। इस क्रम में हितेन्द्र इतिहास की जिन चुप्पियों की ओर संकेत करते हैं, वे बड़ी ही दिलचस्प हैं – '1960 के दशक के दौरान इतिहासकारों के बीच प्रवृत्ति बनी कि ऐसे विषयों पर चर्चा नहीं करना जिनसे सांप्रदायिक सौहार्द के लिए कोई ख़तरा पैदा हो। इन इतिहासकारों का यह मानना था कि सांप्रदायिकता का प्रसार इतिहास की ग़लत व्याख्याओं के कारण ही हुआ इसलिए ऐसे प्रसंगों के विस्तार में जाने से बचा जाना चाहिए जिससे इतिहास के अप्रिय प्रसंगों (जैसे मंदिर ध्वंस या भारत विभाजन के हिंसक सांप्रदायिक दंगों का विवरण) के बारे में लोग ज़्यादा चर्चा करें।' हितेन्द्र को इतिहास की इन तथाकथित चुप्पियों को शोर में बदलकर एक नये इतिहास लिखने की कितनी जल्दबाज़ी है, इसे देखने के लिए इन्होंने गुरुदत्त के हवाले से जो बात कही है, उससे गुज़र भर जाना (एक समीक्षक के नाते इन पंक्तियों को उद्धृत करने से बचने का कोई विकल्प मेरे पास नहीं है) पर्याप्त होगा – 'अपने अनुभव के आधार पर गुरुदत्त का मानना था कि हिंदुओं के ऊपर हिंसा करके उनको अपनी जगह छोड़ने के लिए बाध्य करने का एक पैटर्न था। मुसलमान स्थानीय प्रशासन के साथ मिलकर काम करते थे। वे हिंदुओं पर दबाव बनाते थे ताकि वे अपनी जगह से दूसरी जगह अपनी सुरक्षा के लिए चले जाएँ। यह पंजाब, उत्तर-पश्चिम प्रान्त और सिंध में 1947 में हुआ। अब इसी टेक्नीक का प्रयोग 1950 में शुरू हुआ। पूर्वी बंगाल में हिंदू इसी तरह से भगाए जा रहे थे। लाखों हिंदुओं की हत्या की जा रही थी। इस परिस्थिति में नेहरू और श्यामा प्रसाद मुखर्जी के बीच मतभेद हो गया और मुखर्जी ने मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया।'

हितेन्द्र ने अपनी इस किताब में सबसे पहले भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों पर

बात की है। इस क्रम में उनके तीन उपन्यासों, *भूले बिसरे चित्र*, *सीधी सच्ची बातें* तथा *प्रश्न और मरीचिका* को आधार बनाया गया है। इन तीन उपन्यासों के माध्यम से 'नेहरू युग के इतिहास की पुनर्रचना' का दावा किया गया है। 1947 में भगवतीचरण वर्मा *नवजीवन* के संपादक बने। हितेन्द्र ने दिखाया है कि गोविन्द बल्लभ पंत ग्रुप का पक्ष लेने के कारण उन्हें *नवजीवन* से निकाल दिया गया। हितेन्द्र के अनुसार भगवती बाबू ने भारत में राष्ट्रीयता के अभाव के लिए यहाँ के लोगों में व्याप्त स्वामिभक्ति की प्रवृत्ति को ज़िम्मेदार माना है। स्वामिभक्ति की प्रवृत्ति के कारण ही अंग्रेज़ यहाँ की जनता पर लंबे समय तक राज कर पाए। हितेन्द्र लिखते हैं – 'कालांतर में भगवती जी ने दिखलाने की कोशिश की है कि जनता की देवता के प्रति भक्ति की आदत बनी रहने के कारण गांधी और नेहरू जैसे नेता देवता की तरह माने गए।' हितेन्द्र उपन्यासों के विभिन्न पात्रों के कथन उद्धृत करते जाते हैं और उन्हें लगता है कि वे उपन्यासों के माध्यम से एक नया इतिहास लिख रहे हैं। हितेन्द्र को यह समझना चाहिए कि उपन्यास या कथा साहित्य की आलोचना का अपना सिद्धांत होता है। उपन्यास के पात्रों के कथनों को उपन्यासकार का विचार मान लेना कहीं से भी उचित नहीं है। उपन्यासकार पात्रों के माध्यम से कभी-कभी ऐसी बातें कहलवाता है जिसका सैद्धांतिक तौर पर वह घोर विरोधी होता है। यदि वह उपन्यासकार उपन्यास के पात्र से गांधी को अतार्किक ढंग से ख़ारिज करवाता है तो इसका मतलब यह हुआ कि ऐसे पात्रों से मिलते-जुलते विचार रखने वाले लोगों की विश्वसनीयता पर वह उपन्यासकार सवाल उठा रहा है। हितेन्द्र ने अपनी इस पूरी किताब में इस मोटी-सी बात की घनघोर उपेक्षा की है। हितेन्द्र ने अपनी सुविधा के अनुसार पात्रों के कथनों को उपन्यासकार पर थोप दिया है। इस बात को हम दो-तीन उदाहरणों के माध्यम से समझ सकते हैं। हितेन्द्र लिखते हैं 'गेंदालाल के मुँह से भगवती जी ने कहलवाया है कि अछूतों को साथ लाना थोड़े समय का मामला है। बाद में उन्हें भुला दिया जाएगा।... देश में पाँच से छह करोड़ अछूत हैं और सात से आठ करोड़ मुसलमान हैं, इन तेरह-चौदह करोड़ लोगों के साथ मामले को निपटाओ फिर उसके बाद स्वराज की बात सोचना।' हितेन्द्र के अनुसार फ़रहमतुल्ला के माध्यम से भगवती जी ने मुसलमान कॉन्ग्रेसी नेताओं की पीड़ा को समझने का प्रयास किया है। अब यह देखा जाए कि फ़रहमतुल्ला की पीड़ा क्या है? – 'उसके मुँह से लेखक ने कहलवाया है कि भारत में बहुत सारे संप्रदाय हैं, जिनमें धर्म का

मामला व्यक्ति पर छोड़ दिया गया है, समूह पर नहीं। मुसलमान ऐसा नहीं कर पाते। उनको एक समूह के रूप में अलग रहने का ही अभ्यास है।... हिंदू और मुसलमान मिल नहीं सकते। दोनों अलग हैं।' इसी तरह से जमील नाम के एक पात्र को यह लगता है कि 'गांधी मुसलमानों की मदद मुसलमानों को हिंदुओं का गुलाम बनाने के लिए करना चाहते हैं।' जमील का कहना है कि गांधी और दयानंद के कार्यक्रम एक हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि गांधी दयानंद की तरह इस्लाम का विरोध खुलेआम नहीं करते। बशीर अहमद नाम के एक पात्र को लगता है कि कॉन्ग्रेस ही असली हिंदू महासभा है। सरदार पटेल भी उपन्यास के एक पात्र के रूप में आते हैं और कहते हैं – 'यह वामपंथ अमीरों का फैशन है'। यदि पात्रों की उपर्युक्त बातों को भगवतीचरण वर्मा का विचार मान लिया जाए तो इसे हम उपन्यासकार के साथ अन्याय करना ही कहेंगे। साहित्य का सामान्य विद्यार्थी भी कदापि ऐसी ग़लती नहीं करेगा।

1939 से 1948 के बीच उभरे कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों की चर्चा करते हुए हितेन्द्र यह कहते हैं कि इन मुद्दों की लगातार अवहेलना की गई हैं। हितेन्द्र के अनुसार वे मुद्दे हैं – (1) सुभाष का कॉन्ग्रेस को छोड़ने को विवश किया जाना (2) गांधी द्वारा आंदोलन शुरू करने के पहले तीन वर्षों की प्रतीक्षा (3) 1942 के आंदोलन के बारे में कॉन्ग्रेस की नीति और आंदोलन के चरित्र का मूल्यांकन। भला हितेन्द्र की इस बात से कैसे सहमत हुआ जा सकता है कि इन मुद्दों पर इतिहासकार सामान्यतः चुप रहे हैं! भगवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास *प्रश्न और मरीचिका* में 1947 से 1962 के भारत को आधार बनाया है। इस उपन्यास के एक पात्र जनार्दन सिंह का मानना है कि 'राजनीति बहुत गंदी हो गई है। कोई भी आदमी साफ़-सुथरे तरीक़े से बड़ा आदमी नहीं बन सकता। पार्टी को पैसा चाहिए और यह उन्हीं से मिल सकता था जो बड़े पूँजीपति हैं। और पूँजीपति बेईमान हैं। वे ग़लत तरीक़े से पैसे कमाते हैं और उस कमाई का एक हिस्सा पार्टी के फ़ंड में दान देते हैं।' उदय नाम के एक पात्र को यह 'महसूस होता है कि शर्माजी कॉन्ग्रेस के टिकट से चुनाव जीतते हैं लेकिन उन्हें लगता है कि वे चुनाव इसलिए जीत पाए क्योंकि कॉन्ग्रेस के सामने कोई प्रतिपक्ष नहीं था। शर्मा जी को यह भी लगता है कि जब तक मुसलमान कॉन्ग्रेस के साथ हैं जब तक उसे कोई हरा नहीं सकता।'

उपर्युक्त प्रसंगों के संदर्भ में दो-टूक लहजे में कहने वाली बात यह है कि ये ऐसे प्रसंग नहीं हैं, जिन पर इतिहासकारों और साहित्यकारों ने चुप्पी साध रखी है। ऐसे प्रसंगों पर पर्याप्त लिखा गया है और ऐसे प्रसंग सामान्य जनमानस का हिस्सा बन चुके हैं। गांधी और नेहरू की आलोचना करके कोई यह दावा करे कि ऐसा वह पहली बार कर रहा है और इस तरह से भारतीय इतिहास के रिक्त स्थान को भर रहा है तो इससे ज़्यादा हास्यास्पद बात और क्या होगी? 'नेहरू मोतीलाल नेहरू के बेटे न होते तो प्रधानमंत्री नहीं बन पाते' – यह कहने वाले लाखों हैं। लेकिन यह कहने वाले भी लाखों हैं कि जिस दिन नेहरू की मौत हुई उस दिन मेरे घर में

चूल्हा नहीं जला था। गांधी ने देश को बर्बाद कर दिया – यह कहने वाले लाखों हैं। लेकिन गांधी ने देश को बचा लिया – यह कहने वाले करोड़ों हैं। जिस देश में नेहरू युग से मोहभंग को एक मुहावरे का दर्जा प्राप्त हो, उस देश के इतिहास के बारे में यह कहना कि इसने गांधी, नेहरू और कॉन्ग्रेस की ठीक से आलोचना नहीं की है, हास्यास्पद है। जिस देश ने राजकमल और धूमिल जैसा कवि दिया हो, जिस देश ने राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण और रामवृक्ष बेनीपुरी जैसा विचारक दिया हो, उस देश के विपक्ष (धूमिल को विपक्ष का कवि कहा जाता है) पर सत्ता पक्ष की आलोचना में कंजूसी करने का आरोप लगाना उचित नहीं।

भगवतीचरण वर्मा के बाद हितेन्द्र ने यशपाल के दो उपन्यासों पर विचार किया है : *मेरी तेरी उसकी बात* और *झूठा सच* लेकिन यशपाल के वैचारिक लेखन में भी हितेन्द्र को अपने काम की बहुत चीज़ें मिल गईं। यशपाल की किताब *रामराज्य की कथा* से हितेन्द्र निम्न पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं – '...जब देश के स्वतंत्रता के आंदोलन गांधी जी के नेतृत्व के बाहर जाते दिखाई दिए, जनता ब्रिटिश राज का आधार सामंतशाही और पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था को तोड़ डालने के लिए तैयार दिखाई दी, गांधी जी ने पूँजीवादी सत्य-अहिंसा को ख़तरे में देखकर, ईश्वरीय प्रेरणा के अधिकार से जनता के क्रांतिकारी आंदोलन को स्थगित कर पूँजीपति श्रेणी के स्वार्थ की रक्षा का काम किया।' गांधी के धर्म और अहिंसा संबंधी विचारों की ख़ूब आलोचना हुई है। गांधी को आलोचना से परे न तो ख़ुद गांधी मानते थे और न ही उनके प्रशंसक। इसलिए सिर्फ़ यह कह देने से इतिहास का भला नहीं होगा कि गांधी राजनीति में धर्म को लाते थे, कि 1942 का आंदोलन गांधी और कॉन्ग्रेस के ख़िलाफ़ था कि, गांधी के लिए अहिंसा स्वराज से बड़ी चीज़ थी, कि ब्रिटिश शासन पर गांधी की गहरी आस्था थी, कि गांधी भारतीयों से नहीं, भारतीय पूँजीपतियों से प्रेम करते थे, कि भारत के असली नायक गांधी नहीं क्रांतिकारी थे, कि कॉन्ग्रेस हिंदुओं की जमात और गांधी हिंदुओं के पोप थे। हितेन्द्र की यह किताब ऐसी ही स्थापनाओं से भरी पड़ी हैं। विडंबना यह कि यह सब हितेन्द्र ने भारतीय इतिहास की तथाकथित चुप्पियों का पर्दाफ़ाश करने के नाम पर किया है।

अमृतलाल नागर के उपन्यासों के माध्यम से भी हितेन्द्र इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिंदू और मुसलमान को एक मानना ठीक नहीं। एक पूरब की ओर मुँह करके पूजा करता है और दूसरा पश्चिम की ओर। उनके बीच एकता नहीं हो सकती। *पीढ़ियाँ* उपन्यास का एक मुसलमान पात्र यह विचार व्यक्त करता है। हितेन्द्र की दृष्टि में आधुनिक भारत का ऐतिहासिक यथार्थ है कि हिंदू और मुसलमान एक साथ नहीं रह सकते। वैसे अमृतलाल नागर के यहाँ हितेन्द्र को अपने काम की बहुत चीज़ें नहीं मिलीं। इसलिए स्वाभाविक ही है कि नागरजी को बहुत ही संक्षेप में निबटा दिया जाए। उल्लेखनीय है कि इस किताब में नागर जी के हिस्से 36 पृष्ठ और गुरुदत्त के हिस्से 110 पृष्ठ आए हैं।

गुरुदत्त भारतीय जनसंघ के संस्थापक

सदस्यों में थे। उन्हें लगता था कि यदि हिंदी को राष्ट्रभाषा बना दिया जाए तो सारी भाषाएँ हिंदी में विलीन हो जाएँगी। गुरुदत्त चाहते थे कि 'सोशलिज़म को कुख्यातवाद घोषित किया जाए।' गुरुदत्त को जब यह लगने लगा कि उनकी पार्टी राष्ट्रवाद से समाजवाद की ओर बढ़ रही है तो उन्होंने पार्टी का हमेशा के लिए त्याग कर दिया। अपने अध्ययन के लिए हितेन्द्र ने गुरुदत्त के पाँच उपन्यासों का चयन किया है। – *स्वाधीनता के पथ पर* (1942), *पथिक* (1943), *स्वराज्यदान* (1947), देश की हत्या (1953), *दासता के नए रूप* (1955)। गुरुदत्त के उपन्यासों से गुज़रने के बाद हितेन्द्र जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, उसे देखा जाए – 'गुरुदत्त के उपन्यासों में यह बार-बार आता है कि कॉन्ग्रेस के गांधीवादी नेतृत्व से इतर देशप्रेमियों के और भी दल सक्रिय थे। ये सभी अंग्रेज़ों से लड़ना चाहते थे और देश की आज़ादी के लिए सचेष्ट थे। इन लोगों के बीच गांधी के प्रति श्रद्धा थी लेकिन उनके राजनीतिक कार्यक्रमों के साथ वे नहीं थे। यह कांग्रेसी नेतृत्व उन्हें ढुलमुल लगता था।' गुरुदत्त के बारे में हितेन्द्र आगे लिखते हैं – 'गुरुदत्त के अनुसार कांग्रेस का मुक़ाबला करने के लिए मुसलमान, सरकारी कर्मचारियों, अमीर और कम्युनिस्ट लोगों को आगे किया गया। युद्ध शुरू होने के पहले मुसलमान नेता उतने महत्त्वपूर्ण नहीं थे, पर इस बदली हुई परिस्थिति में उनका महत्त्व बहुत बढ़ गया था। सरकार ने उनको बहुत महत्त्व दिया। अमीर लोगों को पैसे कमाने का सुयोग देकर शांत किया गया। कम्युनिस्ट रूस के प्रभाव के कारण भारत के कम्युनिस्टों ने अपनी राजनीतिक लाइन को बदल दिया। उनको हज़ारों रुपये हर महीने कांग्रेस के प्रभाव को कम करने के लिए दिए जा रहे थे।' कॉन्ग्रेस का नया इतिहास सामने लाने का उतावलापन हितेन्द्र में देखते ही बनता है – 'कांग्रेस के लोगों के बारे में गुरुदत्त लगातार यह दिखलाते रहे हैं कि जब मुसलमान हिंदुओं पर आक्रमण करते थे तो वे लाचार बने रहते थे, पर जब हिंदू मुसलमानों पर हमला करते तो वे अपनी नाराजगी दिखलाते।' सवाल उठता है कि ऐसे प्रसंगों और विचारों से भारतीय इतिहास का भला क्या भला होगा!

इसमें कोई संदेह नहीं कि हितेन्द्र ने बहुत परिश्रम करके साहित्य का ऐतिहासिक रूपांतरण करने की अनूठी पहल की है। अब इसमें उन्हें कितनी सफलता मिली है, यह एक यक्ष प्रश्न है। हितेन्द्र ने इस किताब की भूमिका में लिखा है कि यह किताब पहले अंग्रेज़ी में लिखी गई थी। लेकिन पिताजी के गुज़रने के बाद श्रद्धांजलि स्वरूप हितेन्द्र ने अपनी इस किताब को हिंदी में लिखा। मुझे ऐसा लगता है कि हितेन्द्र को अपनी यह किताब अंग्रेज़ी में भी प्रकाशित करनी चाहिए। अंग्रेज़ी के पाठकों की दिलचस्पी हिंदी के उपन्यासों में ज़्यादा होगी। हिंदी का पाठक उपन्यासों का सारांश क्यों पढ़ेगा, वह पूरा उपन्यास ही पढ़ लेगा। इस स्थल पर कोई यह सवाल उठा सकता है कि हितेन्द्र की यह किताब उपन्यास की आलोचना में कुछ नया जोड़ती है क्या? सच तो यह है कि हितेन्द्र

ख़ुद नहीं चाहते कि उनकी यह किताब उपन्यास की आलोचना से जुड़ी किताबों की श्रेणी में रखी जाए। हितेन्द्र अपनी इस किताब को ज़ोर देकर इतिहास की किताब कहते हैं। वैसे हिंदी में उपन्यास की आलोचना से जुड़ी किताबों की श्रेणी में हितेन्द्र की इस किताब को रखा भी नहीं जा सकता। कारण यह है कि इस किताब के चिंतन के दायरे में उपन्यास की सैद्धांतिकी को शामिल ही नहीं किया गया है। यह किताब हितेन्द्र की वैचारिक प्रतिबद्धता को भी सवाल के घेरे में लाती है। हितेन्द्र इतिहासकारों पर जिस एकांगिकता का आरोप लगाते हैं, इस किताब से गुज़रने के बाद यही आरोप कोई उन पर भी लगा सकता है।